समाजीकरण बनाम शिक्षा की राजनीति*

मेधा पाटकर**

भारतीय समाज में शिक्षा, उसकी विषय-वस्तु, विस्तृत उद्देश्य, औपचारिक बनाम अनौपचारिक स्वरूप एवं इससे जुड़े कई अन्य पक्षों पर निरंतर विचार-विमर्श होता रहा है। इस विचार-विमर्श में शिक्षा से जुड़ी औपचारिक पद्धतियों, शिक्षण संस्थाओं के वातावरण, तयशुदा पाठ्यक्रम एवं उनके सीमित प्रभाव वाले आचार-व्यवहार को इस व्यवस्था से इतर लोगों ने अपने विचारों, अनुभवों और सफल व्यावहारिक प्रयोगों से चुनौती दी है। उनका मत है कि शिक्षा एक व्यापक विषय है और इसे जीवन से अलग करके नहीं बल्कि जीवन पद्धति में फैली विविधताओं का समावेश कर बहुपयोगी बनाया जा सकता है। इससे शिक्षा में सहभागिता को भी बढ़ाया जा सकता है। विविधताओं के समावेश से काफ़ी हद तक समता के अधिकार की पूर्ति भी हो सकती है जो कि हमारे संविधान के उद्देश्यों में भी प्रतिध्वनित होती है। शिक्षा में लोकतंत्र के विकास को प्रोत्साहित करने हेतु गाँव, समाज और राज्य स्तर पर प्रयास किए जाने चाहिए जिससे शिक्षा में 'नवनिर्माण' का आंदोलन शुरु होने तक की संभावना बने। राज्य स्तर के प्रयासों में रह गई कमियों की तरफ़ इशारा करने में भी ये शिक्षाशास्त्री नहीं चूकते। इसके अलावा ये शिक्षा के वैकल्पिक स्वरूप में काम में लगी संस्थाओं के सफल प्रयोगों के अनुकरण की माँग भी करते हैं। वैश्वीकरण के बदलते परिदृश्य में शासन अर्थतंत्र के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है। शिक्षा में बाज़ारीकरण की तीव्र घुसपैठ के कई उदाहरण सामने रखते हुए लेखिका ने स्पष्ट किया है कि अब बाज़ारीकरण का अपना छद्म वेश धीरे-धीरे अपने लाभ कमाने के उद्देश्यों को पूरा करता जा रहा है। कई स्थानों पर शासन भी सहायक की भूमिका में सामने आया है। लेखिका का मत है कि बड़ी पूँजी

*प्रस्तुत आलेख मार्जरी साइक्स प्रथम स्मृति व्याख्यान 2008 के अवसर पर सुश्री मेधा पाटकर द्वारा दिये गए संभाषण का लिखित रूप है। यह संभाषण 8 अप्रैल 2008 को क्षेत्रीय शिक्षा संस्थान अजमेर में दिया गया और इसे एन.सी.ई.आर.टी. द्वारा प्रकाशित किया जा चुका है

**प्रसिद्ध सामाजिक कार्यकर्त्ता एवं नर्मदा बचाओ आंदोलन की संस्थापक

द्वारा यह मात्र एक हस्तक्षेप नहीं बल्कि उनका इस क्षेत्र में प्रवेश, कब्जा और राजनीतिक हस्तक्षेप के उद्देश्यों को समझना अपने आप में एक चुनौती है।

अभिप्राय यह है कि अपने इन उद्देश्यों को पूरा करने हेतु पूँजी हर संभव रास्ते तलाशती है क्योंकि अपने निहित स्वार्थों को पूरा करना ही उसका अंतिम उद्देश्य होता है। लेखिका का मत है कि जीवनोपयोगी शिक्षा की प्राप्ति हेतु सक्रिय सहभागिता हेतु जनशक्ति को भी जुटाना होगा। वहीं दूसरी ओर लेखिका शिक्षा में व्यापक बदलाव की बात करते हुए इस ओर ध्यान दिलाती हैं कि शिक्षा प्रणाली को हर एक तक पहुँचाने के लिए उसमें खुलापन लाना होगा। इस बात से भी इंकार नहीं किया जा सकता कि शिक्षा में आधुनिक समाज के बदलते आग्रहों को भी स्वीकार करना ही होगा। मेधा जी ने राष्ट्रीय एकता और सामाजिक सद्भाव की शिक्षा की विस्तृत रूपरेखा को भी इस आलेख में प्रस्तुत किया है। उनका कहना है कि औपचारिक ही नहीं अनौपचारिक शिक्षा भी लोकतंत्र में विचारों की अभिव्यक्ति का एक अच्छा माध्यम बन सकती है। इसके अतिरिक्त वे सार्थक उद्देश्यों और व्यापक दायरों को जन-जन तक पहुँचाने हेतु किए जा रहे प्रयोगों की ओर भी ध्यान आकर्षित करते हुए लचीलापन अपनाने का आग्रह करती हैं। संचार माध्यमों की सहयोगी भूमिका को रेखांकित करते हुए वे वैकल्पिक माध्यमों को अपनाने पर ज़ोर देती है। इस विषय में सबसे महत्वपूर्ण बात माध्यमों की भाषा की है। कहने का अर्थ यह है कि शिक्षा का परिवेश जीवनदृष्टि पर आधारित शिक्षा को विविधता के समावेश के साथ प्रस्तुत करके ही समाज में लोकतांत्रिक और जनवादी शिक्षा विकसित की जा सकती है। जब तक लोगों को अपनी भाषा में अपनी बात कहने के अवसर प्राप्त नहीं होंगे परिवर्तन को स्वीकारने के आग्रहों में अंतर्विरोध भी खत्म नहीं होंगे। सामाजिक शिक्षा की सबसे बड़ी चुनौती राजनीति की वर्तमान परिस्थितियाँ हैं। लेखिका ने इन सभी चुनौतियों और उनसे जुड़े समाधानों को संक्षेप में इस लेख के अंत में प्रस्तुत किया है।

शिक्षा एक ऐसी सामाजिक प्रक्रिया है जो केवल पुस्तकों-पाठ्यक्रमों या दीवारों के बीच बंधक बनकर नहीं रह सकती। एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को अपने मूल्य, आदर्श, नीति और रीति पहुँचाना, अपनी तकनीक और कुशलता का आदान प्रदान करना यदि 'शिक्षा' है तो यह प्रक्रिया आज के प्रत्येक समाज में जारी है। इसका संबंध सिर्फ़ औपचारिक संरचना, सरकारी योजना, नीति, नियम और शासकीय सहायता से नहीं होता बल्कि यह समाज के इतिहास और भविष्य से होता है। समाज अपने प्राकृतिक परिवेश एवं सांस्कृतिक धरोहर से संबंधित तथ्यों को शिक्षा के रूप में संग्रहित करता है। समाज जो नए मूल्य, नए प्रतीक, नए रिश्ते या नया जीवनदर्शन आत्मसात

करता है; या फिर बदलाव की चाहत रखता है, वह सब भी शिक्षा में प्रतिबिंबित होता है। इसीलिए शिक्षा के न केवल दायरे बदलते हैं बल्कि उसका मूलभाव भी काफ़ी हद तक बदलता रहता है।

भारत एक राष्ट्र है परंतु भारतीय समाज न केवल विविधताओं से बल्कि कई प्रकार की असमानताओं से परिपूर्ण है। ऐसे में शिक्षा केवल पाठ्यपुस्तकों के माध्यम से निकला पाठ्यक्रम नहीं हो सकती है। समाज प्रत्येक **कालखंड** में अपनी औपचारिक ही नहीं अनौपचारिक शिक्षा में भी बदलाव लाता रहता है। हर तबके की सोच में बुनियादी फ़र्क रहना स्वाभाविक है और उनके बदलाव की गति भी समान नहीं हो सकती। इस स्थिति में शिक्षा के स्वरूप, पद्धति, संरचना एवं संदेश को लचीला रखना बहुत ही ज़रूरी होता है लेकिन यदि शिक्षा में निहित मूल्यों, शिक्षण पद्धति एवं शिक्षा प्रसार कार्यक्रमों में समानता नहीं होगी तो राष्ट्र की अखंडता और एकात्मकता का आधार ही खतरे में पड़ सकता है। इस दोहरी चुनौती को समझते हुए हमें शिक्षा संबंधी अपनी भूमिका स्पष्ट करनी होगी।

विविधता का आधार–समता का अधिकार

हम सब जो जीने के अधिकार के लिए संघर्षरत हैं, शिक्षा को उसके व्यापक अर्थ में आत्मसात करते हैं। इसी वजह से हम शिक्षा के अधिकार के व्यापक स्वरूप को महत्वपूर्ण मानते हैं। जीवन में शिक्षा की भूमिका उतनी ही महत्वपूर्ण है जितनी रोटी, कपड़ा और मकान की। मानवीय रिश्ते, संवाद और आदान-प्रदान से ही समाज बनता और बिखरता है। समाज की बनावट और जीवन संबधी धारणाओं में शिक्षा प्रवाहमान है अतएव समाज और शिक्षा का अटूट संबंध कोई भी समझ सकता है। दुनियाँ की 16% जनसँख्या के इस देश का जात-पातों में, मज़हबों में तथा भाषावार प्रांत जैसी बिखरी इकाइयों में बँधा होना स्वाभाविक प्रक्रिया है। इसीलिए शिक्षा के अधिकार को इन भिन्नताओं के पार हासिल करना हमारे अनुसार शिक्षा का प्रथम उद्देश्य है। अतएव शिक्षा को सामाजीकरण की पहली कसौटी होनी चाहिए। महात्मा ज्योतिराव फूले ने हंटर कमीशन के वक्त भी 'ब्राह्मणों से बहुजन समाज का शिक्षा के मायने में अलगाव' की बात उजागर की थी। वह ब्रिटिश साम्राज्यकाल था लेकिन 'आरक्षण' के करीबन 6 दशक बीतने के बाद भी जातियों में ही नहीं गाँव और शहर, खेती और उद्योग में भी बँटे हुए हमारे समाज में समान शिक्षा अर्थात् समता की ओर ले जाने वाली शिक्षा की प्राथमिकता न तो हमारे शासनकर्ता और न ही समाज के अधिकाँश लोग समझते हैं। समाज जाति-वर्ग-लिंग के आधार पर अपना दायरा, परिवेश और अपनी आजीविका के ही साथ जुड़कर शिक्षा की अभिलाषा रखता है। इतना ही नहीं वे शिक्षा से विविधताओं का भंडार सुरक्षित रखने और आपसी वैरभाव या भेदभाव की लकीरें मिटाने के कार्य को कम महत्त्व देता है। हमें इससे उभरना है और समाज के हर तबके की शिक्षा की परिभाषा को, शिक्षा के अंतिम उद्देश्य को और उसकी शिक्षा पद्धति को समझना होगा। गृह-उद्योगों पर आश्रित समुदाय अपने बच्चे को मात्र परिवार के साथ ही नहीं बल्कि उसे वंशानुगत व्यवसाय के साथ जोड़कर ही सिखाना चाहेंगे न कि उसे घर से दूर भेजकर शिक्षा दिलवाने

पर सहमत होंगे। खेती प्रधान समाज हो या वनजीवी, उनके बच्चों की सहभागिता केवल अर्थार्जन के लिए नहीं बल्कि ज़मीनी जीवनप्रणाली में उनके हिस्से के नाते विशेष स्थान रखती है। इस बात को समझे बिना इन श्रमजीवी समाजों की अगली पीढ़ी को आधुनिक शिक्षा के दायरे में लाना, यानि बाह्य ज्ञान के साथ शिक्षा की प्रक्रिया उन तक ले जाना, असंभव-सा है। हमारी पहुँच कुछ बढ़ी भी तो बच्चा कब अपना हाथ छुड़वाकर उससे निकलकर बाहर चला जाएगा इस बात का भरोसा नहीं है। यह एक रुचिकर खोज का विषय हो सकता है कि समाज की कोई भी आर्थिक-सामाजिक ईकाई अपने अंदरूनी मतभेद के होते हुए भी शिक्षा का स्वरूप और विषयवस्तु ही नहीं बल्कि उसका जीवन से रिश्ता, किस पद्धति और माध्यम से स्थापित करती है।

मध्यप्रदेश और सतपुड़ा और विंध्य की पहाड़ियों के बीच स्थित आदिवासी गाँवों में नर्मदा नवनिर्माण अभियान एवं नर्मदा बचाओ आंदोलन हमारी 12 जीवनशालाओं की ओर संचालित है। ये वे गाँव हैं जहाँ के निवासी नर्मदा बचाओ "कहते-कहते, गाँव बचाओ, जंगल-ज़मीन बचाओ और देश बचाओ" तक पहुँच गए हैं और आज भी अपने जीवन का एक बड़ा हिस्सा खोकर अपनी अगली पीढ़ी जो उस प्रकार की औपचारिक शिक्षा लेने वाली पहली पीढ़ी है को पूरी ऊर्जा के साथ नयी जिंदगी देने की कोशिश जारी रखे हुए है। भील, भिलाला, राठवा, तडवी जनजाति के ये आदिवासी अभी भी अपने बच्चों को न केवल होली-दीवाली के नृत्य बल्कि पुरातन कहानियों के माध्यम से अपनी सांस्कृतिक पूँजी पहुँचाने के लिए सतत प्रयासरत रहते हैं। 'गायना' ऐसा ही एक सुंदर माध्यम है। इसे रातभर इंदल पूजा के साथ चलने वाला 'खंडकाव्य' ही समझना चाहिए। इसमें पृथ्वी की उत्पत्ति से लेकर आदिवासी देवी-देवता, राजा-रानी, जीवन पद्धति और अन्न देवता तक की गाथाएँ शामिल होती हैं। इसके द्वारा हर बच्चे-बूढ़े का अपनी धरती, करहण (फ़सल) परंपरा और इतिहास से एक जीवंत रिश्ता बना रहता है। जीवनशालाओं में उसी समाज से निकल कर पढ़े-लिखे शिक्षकों के द्वारा 'गायना' में बुनी हुई कई कहानियों की किताब छपवाकर यदि हम उसे पाठ्यक्रम में जोड़ दें तो इस नये माध्यम की ताकत को हम 'अनौपचारिक' से 'औपचारिक' शिक्षा में ला सकते हैं। सच तो यह है कि अनौपचारिक-औपचारिक का वर्गीकरण भी पूर्णत: सही नहीं है। दोनों शिक्षा के अपने-अपने प्रवाह हैं और कोई बच्चा या व्यक्ति दोनों के समायोजन से ही कुछ सीखता है।

इन आदिवासी बच्चों के पहाड़ी जीवन का प्राकृतिक परिवेश ऐसा है कि इन्हें अक्सर पहाड़ी चढ़कर ही शाला में पहुँचना पड़ता है। इसके अलावा अपने निजी प्रयोजन के लिए भी और हर रोज़ दो बार छोटी बड़ी टेकड़ी (पहाड़ी) उतर कर नदी में नहाने और पानी लेने जाना होता है। इसके अलावा दो नहीं, तीन या चार बार नाश्ता-खाना करते दिन गुज़रता है। पालक अपने बच्चों को प्राथमिक के बाद माध्यमिक शाला के लिए दूर भेजना पसंद नहीं करते थे, दूसरी ओर बच्चे भी बंद कमरों और ऊँची इमारतों वाले शिक्षण संस्थानों में ऊँची शिक्षा के लिए जाना पसंद नहीं करते थे। शिक्षकों की मेहनत और

प्रयास से, थोड़े खुले परिवेश की शालाओं में ही ये बच्चे टिक पाएँ क्योंकि वहाँ उन्हें उनकी बोली में संवाद जारी रखने वाले दोस्त और सहयोगी मिले। नदी और पहाड़ी के साथ रहकर बढ़े हुए इन बच्चों को शहरी शिक्षा-संस्कृति में ढालना आसान नहीं होता है। अपने-अपने परिवेश और जीवनपद्धति से जुड़कर राष्ट्रीय और मानवीय मूल्यों की परिधि में शिक्षा को ढालने की बात विविधताओं में एकता की राह से आगे ले जानी होगी; जो लोकतांत्रिक और जनवादी होगी। इसी के माध्यम से शिक्षा के समाजीकरण के दूसरे स्तंभ, लोकतंत्र को समझना होगा।

मैक्स वेबर ने कहा है—

"कोई भी सामाजिक प्रक्रिया, चाहे शोध हो या शिक्षा, तटस्थ नहीं हो सकती। प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से वह किसी विचारधारा के आधार पर ही चलती है।"

हमें पूछना चाहिए कि हमारे संविधान में रेखित मूल्यों जिसमें समता के अलावा बंधुता, स्वातंत्र्य और समाजवाद भी सम्मिलित हैं के अंतर्गत क्या हर बच्चे को 14 साल तक 'शिक्षा का अधिकार' के तहत शिक्षा मिलती है? इतना ही नहीं क्या शिक्षाकर्मी प्रत्येक बच्चे तक इन मूल्यों को पहुँचाने के लिए कटिबद्ध है? यह जिम्मेदारी सिर्फ़ शासन पर डाल देना अव्यावहारिक ही नहीं बल्कि असामाजिक भी है। महात्मा फूले एवं सावित्रीबाई फूले जैसे समाज सुधारकों ने नगरीय समाज की ओर से शिक्षा को एक कानूनी नहीं, बल्कि मानवीय अधिकार मानकर कार्य किया था। आज भी शिक्षा को वंचित समाज और महिलाओं तक पहुँचाने के लिए आवश्यक राजनीतिक इच्छा शक्ति की कमी है। शासन द्वारा शिक्षा के सर्वव्यापीकरण की असलियत भी अब हमारे सामने आ गई है। चारगाहों, ढोरों के साथ दिनभर घूमते एवं शहर की गंदी नालियों में से सड़ा हुआ प्लास्टिक निकालकर, भंगार इकट्ठा कर बेचने वाले कितने बच्चे औपचारिक शिक्षा के दायरे में हैं?

शिक्षा में लोकतंत्र–विकेंद्रित विकास नियोजन से

बस्ती/गाँव का हर बच्चे को अपनी निश्चल अवस्था में कोमल उम्र में, कोरी पाटी (स्लेट) जैसे सुंदर, समृद्ध संस्कार पाने के लिए ज़रूरी है कि शिक्षकों का चयन शिक्षा के उद्देश्य, अभ्यास या सीख का क्रम, पद्धति, स्थानीय बस्ती, गाँव और समाज से ही किया जाए। इस तरह स्थानीयता की संस्कृति के साथ न केवल शालाओं की इमारतें खड़ी होंगी, बल्कि एक जीती-जागती व्यवस्था भी तैयार होगी, जिस पर समाज का ध्यान, सहभागिता और निगरानी भी होगी। प्रश्न उठता है क्या 'शिक्षाविदों' के बिना समाज की इकाई में इस कार्य को करने के लिए आवश्यक क्षमता की कमी है? इसका उत्तर है बिल्कुल नहीं। यदि प्रत्येक बस्ती या मुहल्ला, गाँव, समाज अपने बच्चों को मूल्याधारित शिक्षा देने के कार्य अपने ही बलबूते पर नियोजित करें तो शिक्षा के माध्यम से नवनिर्माण का एक नया जोश और नया आंदोलन खड़ा हो सकेगा। समाज के सशक्तीकरण के लिए भी यह ज़रूरी है कि वह अपने जीवनदर्शन को समझे, उसे सार्वजनिक बहस में लाए और शिक्षा में समाहित करे, जिससे कि वह अपने भविष्य निर्माण में सहभागी हो सके।

शिक्षा में अपनी मातृभाषा, अपना प्राकृतिक परिवेश से जुड़ाव, समाज की अपनी सांस्कृतिक धरोहर, और वैज्ञानिक तकनीकी योगदान और अपनी अगली पीढ़ी के लिए निरंतर टिकाऊ विकास का नज़रिया प्रतिबिंबित हो। यह एक पीढ़ी द्वारा दूसरी पीढ़ी के भविष्य निर्माण की ओर अपनी जिम्मेदारी की भावना सुदृढ़ होने के लिए, स्वावलंबी विकास के लिए और विकास नियोजन में आज दिखाई दे रही बेरोजगारी या पलायन जैसी समस्याओं का बुनियादी हल ढूँढ़ने के लिए भी ज़रूरी है।

समतामूलक लोकतांत्रिक विकास नियोजन की प्रक्रिया में शिक्षा या स्वास्थ्य जैसी ज़रूरतों को साथ लेकर चलने की चुनौती आज भी हमारे सामने है। देर से ही सही संविधान में 1992 में समाविष्ट धारा 243 एवं 73-74वें संशोधनों के माध्यम से इसे स्वीकारने के लिए पर्याप्त मौका और अधिकार दिया गया है। पंचायती राज की संरचना गाँवों में एक-एक ग्राम सभा और शहर में वॉर्ड सभा जो योजना प्रारूप तैयार करेगी उसी पर ज़िला विकास योजना तैयार होंगी और इसी आधार पर 'पंचवर्षीय योजना' का ढाँचा खड़ा करना होगा। अनुसूची 11 के तहत पंचायतों द्वारा संचालित करने के कार्यों में प्राथमिक और माध्यमिक, तकनीकी, अनौपचारिक और प्रौढ़ शिक्षा भी सम्मिलित है। लेकिन दु:खद बात यह है कि आज तक किसी भी क्षेत्र में—चाहे ज़मीन का उपयोग, नियोजन और बँटवारा या शिक्षा; पंचायतों, स्थानीय स्वराज्य संस्थाओं एवं ग्राम सभा की सही भूमिका उभरने ही नहीं दी गई है। देश के योजना आयोग के उपाध्यक्ष ने 11वीं पंचवर्षीय योजना को अंतिम रूप देने के लिए सभी मुख्य सचिवों से ग्राम सभाओं में बनाई गई विकास योजनाएँ तुरंत भेजने के लिए पत्र द्वारा दिखावटी आग्रह किया था लेकिन सत्ता केंद्रों में बैठे हमारे ही नुमाइंदों ने सही और ईमानदारी से इस प्रक्रिया को चलाने में कोई रुचि या इच्छाशक्ति नहीं दिखाई।

देश में शिक्षा के क्षेत्र में भी इक्का-दुक्का प्रयोग चल रहे हैं, जिनका लक्ष्य शैक्षिक क्षेत्र में स्थानीय इकाई के सहभाग को बढ़ाना और उसे समृद्ध करना है। नर्मदा घाटी में हमने देखा कि आदिवासी गाँवों में सक्रिय प्रतिनिधियों द्वारा अगुवाही और मेहनत—'जीवन शाला' को ज़मीनी विकास का हिस्सा बनाती है। दशकों से बंद पड़े ज़िला पंचायत के स्कूल या न चलने वाली 'बस्ती शालाएँ', जिन्हें भ्रष्ट प्रशासन की वजह से खोलना संभव नहीं हो पाया, वहाँ गाँववासियों द्वारा स्वयं शिक्षक ढूँढ़ने एवं शालाएँ चलाने में प्रमुख भूमिका अदा करना अपने आप में एक विशेष एवं आत्मविश्वास पैदा करने वाला अनुभव रहा। इन शैक्षणिक संस्थानों के केवल व्यवस्थापन में ही नहीं, बल्कि पाठ्यक्रम तय करने और पद्धति और माध्यम सुनिश्चित करने में गाँव समाज का योगदान बढ़ाने की चुनौती आज भी हमारे सामने है। महाराष्ट्र में विविध संस्था-संगठनों ने कोंकण के सिंधुदुर्ग, कोल्हापुर, पूना, ठाणे एवं नासिक ज़िले में जिस तरह से शिक्षा में समाजीकरण लाने का कार्य किया है उसे राष्ट्रीय स्तर पर अपनाने की आवश्यकता है। गौरतलब है स्थानीय विशेषताएँ और स्वरूप न बदलते हुए अनेक छोटे (माइक्रो) से लेकर व्यापक (मेक्रो) योजनाएँ बनाना संभव है।

समाज की सहभागिता बढ़ने पर भी शासन की जिम्मेदारी कम नहीं होती बल्कि बढ़ जाती है। जिस प्रकार देश में अपनाई गई मिश्रित अर्थव्यवस्था निजी उद्योगों को स्थान देने के साथ उन्हें नियंत्रित रखने की कुशलता और ज़रूरी हस्तक्षेप ही यह तय करता है कि अशासकीय योगदान राष्ट्र की औद्योगिकीकरण की दिशा को सही मंज़िल की ओर ले जाए इसी के साथ यह निष्कर्ष भी निकलता है कि निजी क्षेत्र और शासकीय यानि सार्वजनिक प्रयासों के लिए पूरक रहेगा या मारक; ठीक वैसा शिक्षा क्षेत्र में भी है। स्थानीय से आगे बढ़कर राष्ट्रीय तथा अंतर्राष्ट्रीय दायरे की बात हमारी शिक्षा नीति में अपरिहार्य है। आज जबकि पूरी दुनिया को ग्लोबल विलेज (वैश्विक गाँव) की संकल्पना में ढालने में सरकारें और समाज के कुछ तबके कार्यरत हैं तब शिक्षा के बुनियादी ढाँचे, औपचारिक और अनौपचारिक शिक्षा के भी नीति नियम और माध्यम, मूल्यों की नींव और उद्देश्यों की छत ठीक होने से ही हमारी अपेक्षा पूरी होगी। सर्वव्यापी और गुणवत्तापूर्ण शिक्षा के लिए समाज को चुने हुए शासन के साथ मिलकर ऐसी शिक्षा-नीति और प्रणाली बुननी होगी जिसकी आज कमी महसूस की जा रही है। हाँ, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् ने इस ओर प्रयास किए हैं। पिछले दो-तीन सालों में समाज से सहभागिता यानि सामाजिक कार्यकर्ताओं तथा संस्थाओं के साथ हो रहा आदान-प्रदान भी पाठ्यक्रम पर अपना असर डालता रहा है। यह खुली प्रक्रिया शिक्षा ही नहीं व्यापक समाधान के क्षेत्र में कार्यरत एक बड़ी बिरादरी शासकीय शिक्षा कार्य में भी सहयोग को बढ़ावा देती हुई दिखाई दी है परंतु इसे अप्रासंगिक और निष्क्रिय बना दी गई इकाइयों (कम-से-कम ज़िले तक) तक पहुँचाना ज़रूरी है। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि यह प्रक्रिया सिर्फ़ बहस या संगोष्ठियों तक सीमित होकर ही न रह जाए बल्कि इस संदर्भ में आम सहमति पर पहुँचना आवश्यक है। विषमता, मतभेद और भेदभाव से भरपूर हमारे समाज में यह कार्य आसान नहीं है, परंतु इससे छुटकारा पाने का प्रयास तो करना ही होगा। क्रांतिकारी शिक्षामहर्षियों ने इस दिशा में अमूल्य योगदान दिया है।

बुनियादी शिक्षा की कल्पना की बात गाँधी-टॉलस्टाय से शुरु करें। उन्होंने समाज में शांति के साथ-साथ न्याय की प्रतिष्ठापना भी अपनी बुनियादी शिक्षा की सोच में समाहित की थी। गाँधी जी ने तो शिक्षा को जीवन का हिस्सा बनाने के लिए ही इसे रोजागार से ही नहीं बल्कि श्रम से जोड़ा था। उनकी संकल्पना थी ऐसी शिक्षा जिससे श्रम की प्रतिष्ठा भी बढ़े और शिक्षा का स्थान भी स्थापित हो। साथ ही इसके माध्यम से मनुष्य अपनी जारुरत पूर्ति में सक्षम हो। हाथ से किये काम को कमतर आँकना और बुद्धिजीवी कार्य को उच्च—उसी पर जीने वाले समाज के तबके भी प्रतिष्ठित मानने की भावना और विचार से मुक्ति ही इस शिक्षा की सोच है। समता की महत्ता और ऊर्जा बढ़ाने वाली शिक्षा ही यह हासिल कर सकती है। इस विचार से देश में व्यावसायिक शिक्षा को स्थान मिला लेकिन वह महजा एक औपचारिकता या अधिकृत योजना-सी बनकर रह गई। आज तो स्थिति यहाँ तक पहुँच गई है कि व्यावसायिकों के अपने हित में चल रही शिक्षा

सिर्फ़ 'मार्केटिंग' के कार्य का ही हिस्सा बनकर रह गई है। शिक्षा का लालित्य अपेक्षित प्रतिभा, सृजनशीलता, जीवन और जीविका के साथ जुड़ाव और उसमें समाज के सहयोग की बुनियाद ढहकर यह मात्र एक रोज़गार (कमाई) का साधन बन गई है।

व्यवसायों में भी कुशलता के प्रशिक्षण की ज़रूरत उन तबकों को है जो पीढ़ी-दर-पीढ़ी चल रहे व्यवसाय में नया तंत्रज्ञान जोड़कर विकास का हिस्सा बन सकते हैं। उन तक पहुँचकर और उनके योगदान से आगे बढ़ने की तमन्ना शिक्षा योजनाकारों में कदाचित ही दिखाई देती है। जातिगत व्यवसायों को 'आरक्षित' रखना कोई नहीं चाहता लेकिन साथ-साथ नये तंत्र और यंत्र के युग में पारंपरिक व्यवसाय पर जी रहा तबका, जो खेतीहरों, बुनकरों और अन्य दस्तकारों का है, उनके लुप्त हो जाने के प्रति हम अधिक चिंतित नज़र नहीं आते? हर बजट में इन सबका ज़िक्र होते हुए भी व्यावसायिक शिक्षा की योजना बुनियादी शिक्षा की मूलभूत संकल्पना को केंद्र में रखते हुए इन समुदाय के उच्च वर्ग निर्माण को ध्यान में रखकर लेकिन रोजागार निर्माण की दिशा देने वाली क्यों नहीं बन सकती?

शिक्षा का बाज़ारीकरण — बदली मंज़िल बदली राहें!

शिक्षा के बाज़ारीकरण का एक महत्वपूर्ण कारण इसका कंपनीकरण है। कंपनियों का हावी होना केवल शिक्षा के निजीकरण तक सीमित नहीं है। इससे शिक्षा की बुनियाद (विशेषत: उच्च शिक्षा की), कॉर्पोरेट जगत के मान्य उद्देश्यों, ज़रूरतों, मानवी संसाधनों की उसमें चल रही स्पर्धा आदि के अनुरूप सफलता हासिल करने वाली बनती जा रही है। बाजारीकरण के इस युग में शिक्षा का बड़ा हिस्सा विशाल निजी पूँजी निवेश से चलाए जा रहे संस्थानों द्वारा संचालित होता जा रहा है जिसका विपरीत प्रभाव शासकीय या सामाजिक अगुवाही वाले शिक्षा कार्यो पर भी पड़ रहा है। अँग्रेजी शिक्षा माध्यम की हर जगह आवश्यकता महसूस की जा रही है। 'सृजन' केंद्रित उत्पादन में सहायक शिक्षा के बदले अप्रत्यक्ष सेवाओं के लिए ही 'शिक्षित कैडर' तैयार करना, या फिर देश के सामाजिक-आर्थिक सवालों को आत्मसात करने और उनका हल सुझा सकने वाली शिक्षा की जगह अंतर्राष्ट्रीय मान्यताप्राप्त भौतिक उच्चाँकों, प्रतीकों और पद्धतियों में माहिर बनने की कोशिश शिक्षा का मूल उद्देश्य बनता जा रहा है। उच्च शिक्षा संस्थानों में प्रवेश न पाने वाले गरीब या दलित समाज के मन में हीनता पैदा करने वाली आर्थिक पूँजी के माध्यम से फैलने वाली इस गैर-बराबरी शिक्षा के बाह्य हुए प्रभाव, दबावों को समाज में इसे 'आधुनिक राह' न पाने वाले बहुसँख्य युवा भुगतते हैं। इससे पार पाने के प्रयासों में वे अपने स्थानीय और पारंपरिक रिश्ते तक खो बैठते हैं और परिणामस्वरूप शिक्षा से ज्ञान को नज़र अंदाज कर वैभवशाली सम्मान पाने की ईर्ष्या में लिप्त हो जाते हैं।

'आधुनिक पूँजीवादी विकास' में मानव संसाधनों को भी 'पूँजी' मानकर उसे समाज विकास का माध्यम नहीं बल्कि बाज़ार निवेश के साधन के रूप में विकसित करने की सोच बढ़ती जा रही है। आज भी शालाओं में बड़ी सँख्या (करीबन

90%) शासकीय शालाओं की ही है। इस क्षेत्र में निजी क्षेत्र की न्यूनतम हिस्सेदारी के बावजूद अंबानी-बिरला जैसे उद्योगपतियों ने शिक्षा संबंधित एजेंडा बनाने का कार्य अपने हाथ में लेने का प्रयत्न किया। वैसे उनका प्रस्ताव लोकसभा में पारित नहीं हो पाया परंतु इससे एक स्पष्ट संदेश उभरा कि ''पूँजी प्रत्येक वस्तु के साथ-ही-साथ जमीन भी खरीद सकती है और वह न केवल वस्तुओं का किंतु 'विचार' का भी उत्पादन कर सकती है।'' वैश्वीकरण के साथ 'उदारीकरण' के नाम पर पूँजीपतियों को अधिक छूट, अधिक सब्सिडी, अधिक जमीन और प्राकृतिक संसाधन देने की नीति न केवल देशी बल्कि विदेशी पूँजी और माध्यमों को भी बड़ी मात्रा में उपलब्ध करवाई जा रही है। उड़ीसा की 'वेदांत यूनीवर्सिटी' का वेद या अध्यात्म से कोई संबंध नहीं बल्कि यह स्टर लाइट कंपनी का ही दूसरा नाम है। अपना गैर-कानूनी और अन्यायपूर्ण तरीके से बढ़ाया गया खदानों का व्यापार सुरक्षित और प्रचारित करने के लिए अब कंपनी शिक्षा जैसे सामाजिक कार्य में अपने कदम आगे बढ़ा रही है। इस विश्वविद्यालय को दी जा रही हजारों एकड़ जमीन एवं विस्थापन के खिलाफ स्थानीय आक्रोश चरम सीमा पर है वहीं सर्वोच्च अदालत भी एक बार उनका लीज अनुबंध रदद् कर चुकी है। *कोका कोला* हो या *एनरान*, उनका शिक्षा के नाम पर उन क्षेत्रों में जहाँ वे विकसित होते हैं अपना धंधा बरकरार रखना है। वे जिस तरह से लाभ कमाते हैं वह किसी से छिपा नहीं है। अपनी पोल खुलने के डर से वे स्थानीय समुदाय में फूट डालते हैं। इतना ही नहीं वे स्थानीय स्तर के सार्वजनिक विद्यालय या तो खरीद लेते हैं या कानून को तोड़-मरोड़ कर बंद करवाते हैं और जिसका पूरा ब्यौरा समाज के सामने नहीं आ पाता है। मुंबई में महानगर पालिका की एक शाला की जगह अंतर्राष्ट्रीय स्कूल खुलवाने की साज़िश और वहाँ पहले से पढ़ने वाले बच्चों द्वारा लाख रुपये सालाना फ़ीस देने में असमर्थ होने के कारण उन्हें हटाकर अन्य समृद्ध परिवारों के बच्चों की भर्ती की हकीकत, 'सूचना का अधिकार' का उपयोग करते हुए उजागर की गई। इसके पश्चात् महानगरपालिका के आयुक्त को उस अंतर्राष्ट्रीय स्कूल को बंद करना पड़ा, लेकिन मुख्यमंत्री जी ने कोई अवांदि सा कारण बताते हुए स्कूल को क्लीन चिट देकर आज तक चालू रखा हुआ है। वैसे ही शिक्षा का निजी धंधा बढ़े, इसलिए सार्वजनिक, सरकारी शालाओं को धीरे-धीरे बंद करने की मध्य प्रदेश सरकार की हकीकत या उन्हें साधन और समर्थन न देते हुए कमजोर या अव्यावहारिक बनाने की प्रक्रिया 'सर्व शिक्षा अभियान' की घोषणा जारी रखते हुए भी आगे बढ़ रही है, यह बहुत ही चिंता की बात है। मुंबई और महाराष्ट्र का अनुभव यह भी है कि उर्दू, तमिल, कंनड़ जैसी भाषाओं में प्रादेशिक विभिन्नता से भरे शहरी समाज के बच्चों को पूर्व में अपनी मातृभाषा में जो शिक्षा प्राप्त होती थी वह अब मानवता के अभाव में बच्चे नहीं, और बच्चे नहीं इसलिए ध्यान नहीं, जैसे दुष्चक्र में फँसती जा रही है। शासन से जरुरी साधन, मानव संसाधन याने अच्छे शिक्षक और उनका प्रशिक्षण भी आंगनवाड़ी से उच्च माध्यमिक तक और उससे भी आगे (आईआईटी, आईआईएम जैसे कुछ

सफ़ेद हाथी से दिखाई देने वाले शिक्षा संस्थान छोड़कर) पर्याप्त रूप में उपलब्ध न किए जाने की स्थिति में सहायता जुटाने के नाम पर निजी कंपनियों या पूँजीपतियों यानि मुनाफ़ाखोरों का प्रवेश विविध मागों से हो रहा है। इसे स्वीकार ही नहीं बल्कि सराहा भी जा रहा है। अंबानी की रिलायंस कंपनी को मुंबई में महानगर पालिका की शालाओं के पास बची ज़मीन बेचने की योजना ऐसी ही एक योजना है। इसके अंतर्गत बेची हुई ज़मीन के बदले उस विद्यालय को कंपनी से मात्र एक 'कंप्यूटर लैब' प्राप्त हो पाएगी। यह सब क्यों हो रहा है यह सहज ही समझा जा सकता है।

इस तरह की पूँजी केवल कंपनियों का हस्तक्षेप ही नहीं बल्कि उनके इस क्षेत्र में प्रवेश और कब्जा, राजनीतिक हस्तक्षेप का प्रत्यक्ष उदाहरण है। दूसरी ओर शिक्षा को बुनियादी अधिकार मानने के बावजूद पर्याप्त वित्तीय सहायता न देने वाली राजनीति राजनेताओं के लिए कमाई का साधान बन गई है। इसे प्रत्येक राज्य में मंत्री या छोटे-बड़े राजनेताओं द्वारा खोले गए अथवा खोले जा रहे शिक्षा संस्थानों का स्वामित्व: समझा जा सकता है। इस देश में एक 'शिक्षा साम्राज्य' स्थापित होता जा रहा है। महंगी शिक्षा से वंचित समाज की मजबूरी साफ़-साफ़ नज़र आती है। फिर चाहे वह बस्ती की किसी बहन द्वारा अपने 4 साल के बच्चे को नर्सरी में डालने की कोशिश हो या दलित बहुजन समाज में आरक्षण या बिना आरक्षण के ऊपर आए विद्यार्थियों को कर्जदार बनाकर शिक्षा प्राप्त करने की लाचारी हो या किसान परिवार द्वारा स्वयं को बंधक रखकर अपने बच्चे को दिलाई गई शिक्षा हो जो कि पहले 'डिग्री' उसके बाद स्वयं को 'नौकरी' पाने की तड़प तक सीमित कर लेती है। जो अंतत: एक घृणास्पद बोझ के रूप में सामने आती है। गैर-सरकारी प्रयासों को प्रोत्साहित करने के प्रति *केपिटेशन फी* या चमचमाते आलीशान शिक्षागृहों के माध्यम से लूट की छूट देने वाले शासनकर्ता और जिन्होंने अपनी स्वयं की तिजोरी में जैसे—उद्योग, खनिजदोहन या गृहनिर्माण जैसे अन्य क्षेत्रों में खुले हाथों से लुटाई है, वैसा ही अब ये शिक्षा के क्षेत्र में कर रहे हैं और इसी के परिणामस्वरूप निजी पूँजी निवेश का सबसे चहेता क्षेत्र बन गई है। शिक्षा पूँजीपतियों का मुनाफ़ा बढ़ा रही है। शासन से ऐसी संस्थाओं के लिए बड़े पैमाने पर दान, जमीन आबंटन तथा सभी टैक्स में मिल रही छूट से शिक्षा के इन दुकानदारों को बढ़ावा मिल रहा है। इसका वज्रपात न केवल दलित, पीड़ित समाजों पर जो आरक्षण के बावजूद वंचित रहे हैं बल्कि अन्य जाति संप्रदाय के आर्थिक दृष्टि से कमजोर तबकों पर भी हुआ है। फलस्वरूप आरक्षण के मुद्दे पर शिक्षा में समता के नाम पर विद्यार्थियों के मध्य टकराव ही नहीं, आपसी द्वेषभाव यानि जातिवाद को भी बढ़ावा मिला है। आरक्षण विरोधी आंदोलन ने आरक्षण के उद्देश्यों को मिटाने के बीज समाज में डाल दिए हैं। कई जानकारों का मानना है कि आरक्षण नीति को खत्म करके शिक्षार्थियों को अपने उपभोक्ता बनाने के लिए अधीर कंपनियों, पूँजीपतियों का भी इस विवाद को हटा देने में हाथ था। संवैधानिक समतावादी पहल को समाप्त करने वाले बाजारू प्रभाव दबावों का

यह सिलसिला जो आज राजनीति को जोड़कर चल रहा है उसका अंतिम परिणाम क्या होगा यह कह पाना मुश्किल है लेकिन इसकी भयावहता जारूर समझ में आ रही है।

निजीकरण की इस साजिश में न केवल पूँजीपति बल्कि राजनेता भी शामिल हैं ये अपने निजी विद्यालय, महाविद्यालय या शिक्षा संस्थान खोलना जारी रखते हुए, शासकीय सहायता और सहानुभूति के विशेष पात्र बने हुए हैं। दूसरी ओर शिक्षानीति में भी अब शासन की जिम्मेदारी के साथ-साथ या कई मामलों में तो उससे भी अधिक विश्वास गैर-शासकीय शिक्षा संस्थानों पर किया जा रहा है। हमारा अनुभव रहा है, बड़े-बड़े बिना अनुदान शिक्षा संस्थानों को भरसक छूट देने वाला शासन किंतु छोटी, प्रयोगशील शालाओं के प्रति बिल्कुल भी सहिष्णु नहीं। इसी का परिणाम है कि समाज में, किसी गरीब बस्ती या आदिवासी गाँव में शुरु की हुई एकाध प्राथमिक पाठशाला भी, बिना अनुदान के या शासकीय मंजूरी के बिना नहीं चलाई जा सकती। इस नियम को दिखाकर नर्मदा किनारे की जीवनशालाओं को बंद करने का नोटिस जब महाराष्ट्र शासन ने दिया तब हमें समझ में नहीं आ रहा था कि हम इस पर हँसें या रोएँ। उन्होंने इसके कारण गिनाए। उनके अनुसार हमारे पास इन्हें चलाने के लिए पर्याप्त संसाधन नहीं थे जबकि हमारी 10 से अधिक जीवनशालाएँ पिछले 10 सालों से सुचारु रूप से चल ही रही हैं और उनमें वे कोई कमी दिखा ही नहीं सकते थे। शाला बंद करने का दूसरा कारण दिया था कि क्षेत्र में ज़िला परिषद् के पर्याप्त स्कूल चल रहे हैं इसलिए और किसी स्कूल की जरुरत नहीं है। यह हँसी की नहीं बहुत ही गंभीर बात है क्योंकि सतपुड़ा की घाटी के शत-प्रतिशत आदिवासी पहाड़ी क्षेत्र में जहाँ हमारा संगठन सक्रिय है ज़िला पंचायत की एक भी प्राथमिक शाला का अस्तित्व ही नहीं है। फिर ये झूठ क्यों? पहली से चौथी तक इन शालाओं में अध्ययन करने पर शासकीय परीक्षा में भाग लेने की मंजूरी शासन से आसानी से क्यों नहीं मिलती? क्यों जीवनशालाओं जैसे समाज से पुरस्कृत उपक्रमों को शासन द्वारा मान्यता नहीं दी जाती? सच तो यह है कि यह निर्णय शिक्षा के समाजीकरण के खिलाफ़ और बाजारीकरण के पक्ष में बिना अनुदान के चलने वाली शालाएँ बंद करना शिक्षा की गुणवत्ता बढ़ाने के लिए नहीं बल्कि शिक्षा की कीमत बढ़ाने के लिए है। जाहिर है कि अनुदान के बँटवारे में राजनेताओं का, अधिकारियों का कमीशन तय होने से और बड़ी कंपनियों या कंपनियों जैसे संस्थानों की शालाओं को ही नहीं, विश्वविद्यालयों को भी शासकीय मान्यता और बढ़ावा मिलने से नगरीय समाज के छोटे किंतु स्वत:धूर्त प्रयास असमय मौत का शिकार हो रहे हैं। शिक्षा क्षेत्र में समाजीकरण की जगह निजीकरण को बढ़ावा मिल रहा है।

बदलाव की दिशा

तीन पहलू – समान, जीवनदायी और मानवीय शिक्षा

इस स्थिति में बदलाव लाने के लिए चिंतित लोग देशभर में मौजूद हैं। उनके सामने बहुस्तरीय चुनौतियाँ हैं। पहली है—नीतिगत बदलाव और समान शिक्षा के हक को आगे बढ़ाने की। दूसरी,

शिक्षा के विषय, पाठ्यक्रम के साथ-ही-साथ माध्यम को भी जनवादी बनाने की तथा तीसरी, शिक्षा को सामाजिक एकता, राष्ट्रीय एकात्मकता और मानवीय रिश्तों का माध्यम बनाने की।

समान शिक्षा की बात धीरे-धीरे केवल हक की नहीं, एक नये आंदोलन की बुनियाद बनती जा रही है। आज बस्ती स्तर पर समाज सिर्फ़ महात्मा फुले और सावित्रीबाई से प्रेरणा लेकर ही शिक्षा के फैलाव की नहीं सोच रहा बल्कि अब तो उसके द्वारा बाबा साहब तक से प्रेरणा लेकर सामने आई महिलाएँ और बहुजन समाज इसके माध्यम से अपने सामाजिक-आर्थिक बदलाव का सपना भी हासिल करना चाहता है। इसी वजह से शिक्षा को बाज़ारी वस्तु न बनने देने का संकल्प जनसामान्य से अपेक्षित है। आज जनसँख्या का बड़ा भाग शिक्षा से पूर्णत: वंचित है। अगर जातिवाद से निपटने की घोषणा के बावजूद इस नये प्रकार का जातिवाद उभरने के लिए आर्थिक विषमता मूल कारण है तो इस विसंगति को समाप्त करने के लिए शासन के हस्तक्षेप का रास्ता खुलना जरुरी है। सहायता देते समय शासन ने समान शिक्षा की जिम्मेदारी उठानी चाही। इस बात पर अपना विश्वास व्यक्त करते हुए हर तबके का मत है कि वित्तीय जवाबदारी का भय न रखते हुए शिक्षा पर खर्च की जाने वाली महाकाय राशि की प्राथमिकता जब सरकार तय करेगी तभी स्थिति बदलेगी परंतु ऐसा होता दिखाई नहीं पड़ता। अंबानी या टाटा, मित्तल या जिंदल की कंपनियों को करोड़ों रुपये देने वाला शासन विद्यार्थियों के लिए मुक्त शिक्षा के लिए क्यों तत्परता नहीं दिखाता? भारत की जनता को यह मालूम होना चाहिए कि फ्रँास, क्यूबा जैसे कम जनसँख्या वाले देश ही नहीं चीन जैसे (अपनी तरह) बहुल जनसँख्या के देश में भी सरकार शिक्षा की पूर्ण जिम्मेदारी उठाती है। आँगनवाड़ी से लेकर उच्च व्यावसायिक शिक्षा तक का सारा खर्च शासन को उठाने की जरुरत है। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि सब कुछ सरकारी और भ्रष्टाचारी पद्धति से ही आगे बढ़े। शासन द्वारा लोकतांत्रिक होकर शिक्षाकार्य चलाने का अर्थ है, गैर-सरकारी यानी सामाजिक योगदान को साथ लेकर चलना। इसका अर्थ स्थानीय, राष्ट्रीय, विविध स्तर के शिक्षा शास्त्री, विद्वान या वैज्ञानिक और देशी-विदेशी तकनीक को पूर्ण रूप से नकारना भी नहीं है। शिक्षा को देश की संस्कृति को लेकर नया भविष्य बनाने का सपना ही नहीं बल्कि यहाँ की वास्तविक जरुरतों के आकलन का माध्यम भी बनना होगा। साथ ही हमें यह भी देखना होगा कि हमारे जीवन से छेड़छाड़ न हो, यह समाज और शासन, दोनों की ज़िम्मेदारी है।

मंडल आयोग ने हमारे बंधुता, समता, न्याय के मूल्यों को शिक्षा में उतारने का संदेश दिया। पर आज भी चप्पल और स्लेट के अभाव में, दूरी के कारण पहुँचने में असमर्थ होने से एवं छात्रावास में जगह न पाने पर वापस लौट आने वाले दलित, आदिवासी, बहुजन समाज और गरीबी भुगतने वाले बच्चे हमारी आँखों के सामने हैं। उन्हें साथ लेने के नाम पर वोटों की राजनीति ज़रूर चलती रही है लेकिन इन वंचितों तक पहुँचने के उद्देश्य से ही गठित की गई कोठारी आयोग कि शिक्षा पर बजट का 6% खर्च करने की सिफ़ारिश अभी तक प्रत्यक्ष रूप नहीं ले पाई है। 2000 से 2007 तक

शिक्षा पर केवल 2 से 3.2% तक ही खर्च हुआ। शहरी धनिकों के उपभोग से जुड़े भव्य '*इंफ्रास्ट्रक्चर*' (जैसे—हायवेज़, हवाई जहाज अड्डे इत्यादि) पर हो रहे खर्च, कर्मचारियों के वेतन हेतु छठे वेतन आयोग का बोझ डालने वाले खर्च की तुलना फिर 'सुरक्षा' पर हो रहे खर्च की तुलना यदि शिक्षा पर होने वाले खर्च से करें तो मन में आक्रोश पैदा होता है। आज की राजनीति गलत प्राथमिकताओं पर ही पलती है। अब यह स्पष्ट होता जा रहा है कि आज़ादी के 60 साल बाद भी देश में विद्यमान इस विषमता को दूर करने के सामाजिक उद्देश्य को हासिल करने में भारत के शासक, राजनेताओं की कोई रुचि नहीं है। इसलिए शिक्षा में गैर बराबरी से चिंतित शिक्षा प्रेमियों को एवं जनसामान्य को इस कार्य के लिए मशाल जलाना ज़रूरी है।

जीवनदायी शिक्षा–दूसरी मंज़िल

आम जनता यह कार्य संघर्ष द्वारा कर सकती है। आज आवश्यकता है अर्थनीति में शिक्षा को स्थान और सम्मान न देने वाली तथा शिक्षा के पक्ष में इच्छाशक्ति न रखने वाली राजनीति से संघर्ष की। समाज में शिक्षा के प्रति आग्रह में विस्तार के प्रति जागरूकता बढ़ाने का कार्य केवल कुछ शिक्षाशास्त्रियों या चंद बुद्धिजीवियों की वकालत करने से संभव नहीं होगा। इसके लिए एक भूमि और भूमिका तैयार करनी होगी। शिक्षा से बहुसँख्यकों को वंचित रखने वाला 'नव ब्राह्मणवाद' जब आम लोगों की समझ में आ जाएगा, तब उन्हें शिक्षा की माँग अपनी अस्मिता और विकास के लिए अनिवार्य मानकर, इसके लिए उठ खड़े होने में समाज को देर नहीं लगेगी। 'शिक्षा' में राजनीतिक घुसपैठ नहीं किंतु शिक्षा को लेकर लोगों की माँग को समर्थन दिलवाने में राजनीतिक स्पर्धा का निर्माण करना ज़रूरी है। किंतु महज चुनावी प्रचार में ही नहीं बल्कि सतत रूप से समान शिक्षा के मुद्दे पर जनशक्ति जुटाकर कार्यरत रहने से ही यह संभव होगा। दलितों, आदिवासियों, श्रमिकों के साथ जल-जंगल- जमीन, विस्थापन, सामाजिक न्याय या अन्य किसी भी मुद्दे पर कार्य करने वाले जनसंगठन यदि ठान लें तो वे एक ऐसी परिवर्तनवादी शिक्षा शैली के निर्माण में सहायक हो सकते हैं जो समाजीकरण को बल दें।

आवश्यकता है प्रचलित पाठ्यक्रमों को आज की वास्तविकता से जोड़ने की। समाज में 'आधुनिकता के नाम पर हो रहे बदलाव' शिक्षा के नए आयामों की जरुरत महसूस करवा रहे हैं। शिक्षा में दुनिया की हर घटना और तकनीक को सम्मिलित करने की स्पर्धा लगी हुई है। लेकिन आवश्यकता है भाषा की विविधता, जैव संपदा, सादगी, मेहनत और निरंतरता के आधार पर बनी जीवन प्रणाली की सोच की, शिक्षा नीति ही मसौदों में केवल परिलक्षित न हों बल्कि प्रत्येक बालक तथा पालक के दिल-दिमाग में भी बस जाए, इसलिए मात्र शिक्षा के उद्देश्य और सिद्धांत तय करने वालों की आवश्यकता नहीं है बल्कि अपना भविष्य तय करने में समाज सहयोग की प्रक्रिया आगे बढ़ाने वालों की भी जरुरत है। महाराष्ट्र के सोलापुर ज़िले में *हॅलो फाउंडेशन* ने मुस्लिम एवं दलित बस्तियों में स्वास्थ्य संबंधी कार्य में सैंकड़ों विद्यार्थियों को ले जाने में सफलता प्राप्त की है। तो कृष्णमूर्ति *फाउंडेशन* चेन्नई के स्कूल के और केरल में त्रिथूर के पास की 'ग्रीन सालसाबिल' के छात्र-छात्रा

कोकाकोला विरोधी संघर्ष हो या नर्मदा घाटी का सत्याग्रह, हर परिवर्तनवादी आंदोलन में न केवल पहुँचते हैं बल्कि अपने शिक्षकों के साथ पूरा अध्ययन कर उन मद्दों पर बहस भी करते हैं। इसे केवल शोधपरक सहभागिता का जामा न पहनाते हुए जारूरी है कि यह शिक्षा का हिस्सा बने। कई बार दिखता है कि उच्च वर्ग–जाति के स्कूलों में पर्यावरण की जागृति लाने वाली शिक्षा की कोशिशें अधिक होती हैं लेकिन आदिवासी या किसानी क्षेत्र की शालाओं में कम। अपने परिवेश से भिन्न जीवन और संदर्भ की तरफ़ रुचि और उसे जानने की उत्सुकता तो ठीक है लेकिन सोच समझकर अपने संसाधनों से अधिकारों तक को समझने, जानने की दिशा में पाठ्यक्रमों को ढालना और उसे 'बुनियादी' शिक्षा के रूप में अपनाना तभी संभव हो सकता है जब शिक्षा का कार्य सही अर्थ में समाज कार्य बने। गाँव में शिक्षक पहुँच रहे हैं या नहीं, इसका हिसाब रखने के लिए ही केवल सरपंचों और जहाँ शाला चल रही हैं, उस घर के मालिक या पड़ोसी के हस्ताक्षर लेने तक ही ग्रामीण शिक्षा में 'सहभागिता' ली जाती है। शहरी शिक्षा में तो यह भी नहीं होता है। धनिकों के स्कूलों में भी हमने देखा है कि सुशिक्षित माता–पिताओं को समारोहों में सजधजकर आने में और अपने बच्चों को प्राप्त पुरस्कारों में ही दिलचस्पी होती है। बच्चे को दी जाने वाली शिक्षा में छिपे मूल्य और 'जीवन संदेश' के प्रति उन्हें कोई चिंता नहीं होती। हमें इस दिशा में सोच जागृत करनी होगी।

वर्तमान शाला व्यवस्था के बाहर वंचित तबकों के बच्चों और माँ बाप तक पहुँचना है तो शासन को पूरी शिक्षा प्रणाली में खुलापन लाना होगा। 'जहाँ बच्चे हैं, वहाँ शाला' के सिद्धांत को मूर्त रूप देना होगा। बाल मज़दूर बने बच्चों से लेकर अपने छोटे भाई को सँभालने के लिए घर में बिठाई गई बच्चियों तक, सबको हमें अपने शिक्षा अभियान या 'जीवन शाला' में शामिल करना होगा। महाराष्ट्र में दिवंगत अनुताई वाद्य द्वारा आदिवासी क्षेत्रों में 'चरागाह स्कूल', पत्थर की खदानों में कार्यरत मज़दूरों के बच्चों के लिए 'दगड़ी शाला' याने पत्थर शाला एवं शुगर फैक्ट्रियों के लिए गन्ने काटने वालों के बच्चों के लिए 'साखर शाला' याने 'शक्कर शाला' ऐसी ही संकल्पना के प्रतीक हैं। लेकिन 'सर्व शिक्षा अभियान' जैसे शासकीय प्रयासों में अभी भी ऐसी विविधता और ज़मीनी शिक्षा कार्यक्रमों की कमी या उद्देश्य के प्रति कटिबद्धता की मर्यादा के कारण ये कार्यक्रम अपना दायरा बहुत नहीं बढ़ा पाए हैं।

शिक्षा से रोजगार पाने की इच्छा है तो 'रोजगार' से शिक्षा को जोड़ना रोजगार से जीवन को जोड़ने के जैसा होना चाहिए। बाल मजदूरों के संबंध में मालिकों और बच्चों को पढ़ाना ज़रूरी न मानने वाले परिवारजनों को केवल कानून के सहारे नहीं, बल्कि सामाजिक स्तर पर चाहे उद्योग हो या बस्ती या वॉर्ड, शिक्षा के प्रबंधन के कार्यक्रम से लेकर शिक्षाकर्मी और समाज के बीच संवाद की प्रक्रिया आवश्यक है। इससे भावी पीढ़ी की ही नहीं वर्तमान पीढ़ी की वैचारिक अवधारणा भी और स्पष्ट होगी इसके अतिरिक्त सामाजिक एकता को भी इससे बढ़ावा मिलेगा। इसी के साथ स्वावलंबी विकास के प्रत्येक कार्य में सहभागिता, समाज में लोकतांत्रिक निर्णय प्रक्रिया को बढ़ावा

जैसे कई लाभ भी प्राप्त हो सकते हैं। समाज में 'शिक्षा' से संबंधी एक ऐसी छुपी आस है जिसका उपयोग शिक्षा के समाजीकरण के लिए जनता को जगाने की सुप्त शक्ति की पूँजी के रूप में किया जा सकता है।

राष्ट्रीय एकता और सामाजिक सद्भाव की शिक्षा

बाबा साहब अंबेडकर के संदेश से शिक्षा का उद्देश्य स्पष्ट है—सीखो, संगठित हो, संघर्ष करो। सीखने के बाद संगठित होने का अर्थ है शिक्षा को इंसानों, नागरिकों के जुड़ाव का साधन बनाना। आज देश में फैलती जा रही सांप्रदायिकता फिर चाहे—जाति, मज़हब या प्रांत के नाम पर या संप्रदाय के आधार पर बढ़ती जा रही हो, अस्मिता की राजनीति को एक चुनौती है। आतंकवाद की सबसे खतरनाक जड़ इसी में है, बंदूक या बम में नहीं। क्या शिक्षा इसे निपटाने का औजार हो सकती है? क्यों नहीं? समान शिक्षा—शिक्षा की एक ऐसी धारा होगी जिसमें अंबानी-टाटा और उनके मजदूरों के बच्चे एक साथ पढ़ेंगे; हिंदू, मुस्लिम, सिख, जैन या बौद्ध समाज के बच्चे साथ-साथ पढ़ेंगे। आतंकवाद के इस नए स्वरूप से निपटने का इससे अधिक प्रभावी साधन क्या हो सकता है। सच्चर आयोग की रिपोर्ट हो या मंडल आयोग का अनुकथन इसी विषमता को उजागर करता है। बहुजन या अल्पसँख्यकों को विशेष स्थान, सम्मान या सहूलियतें देने के साथ दोनों रिपोर्टों में विषमता निर्मूलन के साथ ही साथ जाति निर्मूलन के लिए जो सिफ़ारिशें की गई हैं; उन पर भी अमल तो होना ही चाहिए। लेकिन सबसे पहले शिक्षा के औपचारिक पाठ्यक्रमों में छपे या वाक्यों के बीच छिपे भेदभाव की खोज जैसे प्रसंगों को निकालना सबसे अहम् है। इसी के साथ ही पाठशाला-विश्वविद्यालयों के बाहर नकारात्मक प्रभाव डाल रहे सभी माध्यमों की चिकित्सा की भी अत्यंत आवश्यकता है। इलेक्ट्रॉनिक मीडिया के प्रचार प्रसार में 'शिक्षा' का भरपूर एजेंडा है। अगर सांप्रदायिकता फैलाने में मददगार होता है तो सर्वधर्म समभाव का स्कूली शिक्षा पाठ भी बच्चे के मन पर असर नहीं कर पाता। राज ठाकरे द्वारा फरवरी-2008 में ही शुरु किए प्रांतीय आधार पर हमले के चित्र बार-बार देखकर युवा द्वारा 'हमारे रोजागार पर बिहारी की बुरी नजार क्यों जैसे सवाल के साथ युवा का खड़े हो जाना कतई अस्वाभाविक नहीं है। औपचारिक नहीं तो अनौपचारिक 'शिक्षा' द्वारा लोकतंत्र में अपने विचार रखने की, किसी धर्मवादी या जातीय भावना की आजादी को भी हम सहजता से नकार नहीं सकते। इसके बावजूद समझ बढ़ाने वाले कार्यक्रमों के द्वारा शिक्षा ही नहीं, जीवन मूल्यों पर समाज में तीखी बहस को किसी तरह की कानूनी कार्रवाई के पहले प्रारंभ कर भी सामाजिक माहौल का दबाव तैयार करना जरुरी है। यह कार्य कठिन अवश्य है परंतु असंभव नहीं। शिक्षा में प्रत्येक समाज की अपनी विशिष्टता, संस्कृति, विशेषताएँ और अस्मिता भी बनी रहनी चाहिए। शासनकर्ता राजनीति के भेदभावपूर्ण आचरण में डूबे हुए हैं। इस बात को ध्यान में रखते हुए समाज का उनपर भी अंकुश एक महत्वपूर्ण मुद्दा है। अतएव शासन को उसकी जिम्मेदारी का भान कराते हुए शिक्षा के तमाम

उद्देश्यों को रेखांकित करते हुए शिक्षा के समाजीकरण की ओर मोड़ना होगा। इस हेतु आज राजनीतिक हस्तक्षेप से ही नहीं बल्कि गैर बराबरी फैलाती आर्थिक सत्ता के बाजारू हाथ में पड़ा शिक्षा का वास्तविक 'समाजीकरण' अथवा 'लोकतांत्रिकरण' करने में समाज को पहल करनी होगी। यह आवश्यक है 'स्वतंत्र शिक्षा आयोग' के साथ-साथ हर ज़िले में शिक्षा सहयोग प्रतिष्ठान, जिसमें पब्लिक पार्टनरशिप (जनता की पूर्ण भागीदारी) के सिद्धांत पर अमल भी हो और सारा शिक्षा क्षेत्र उसी की निगरानी में रहे। ग्राम सभा और वार्ड सभाओं की भूमिका प्राकृतिक संसाधनों के अधिकार और नियोजन के लिए जितनी जरुरी है, उतनी ही शिक्षा जैसे 'सामाजिक संसाधन' से संबंधित अधिकार और कर्त्तव्य को लेकर भी है। हम सब, जो आज की स्थिति में परिवर्तन चाहने वाले अध्यापक, विद्यार्थी, पाल्य और पालक के नाते नहीं बल्कि नागरिक होने के नाते और इंसानियत की अहमियत मानते हुए प्रशासकीय संरचना में ही न फँसते हुए, सक्रिय होकर न केवल विविध शिक्षण संरचनाओं की परिकल्पना भर करें बल्कि इस संबंध में एक आंदोलन भी खड़ा करें। यह कब और कैसे होगा, इस पर विचार अवश्य करें।

व्यापक उद्देश्य के साथ जोड़ें व्यापक माध्यमों को

गहरे उद्देश्य और व्यापक दायरे के लिए 'औपचारिक' शिक्षा या संस्थानीय 'अनौपचारिक' शिक्षा का कार्य, उसके माध्यम या पाठ्यक्रम अधूरे और अपर्याप्त साबित होते हैं। इनकी सीमाओं को समझने के लिए हमें सामान्यतया शिक्षा के क्षेत्र में न गिने जाने वाले, परंतु समाज की मानसिकता बनाने में प्रभावी अन्य माध्यम और प्रक्रियाओं की नाप-तोल करनी होगी। उनके व्यापक प्रभाव को समझने के पश्चात् ही हम उस माध्यम के द्वारा सामाजिक मूल्य, मुद्दे, परिवर्तनकारी कार्य की समझ बनाने के विशेष प्रयास का महत्त्व समझ पाएँगे। उसके लिए हमें हमारे तौर तरीके और शिक्षा विषयक समझ भी अधिक व्यापक और सबको साथ लेने वाली बनानी होगी। जागरूकता में वृद्धि करने वाले ऐसे सामाजिक प्रयासों को आज के दृश्य-श्रृव्य तथा पत्र-पत्रिकाओं के माध्यमों से लेकर जाति, समाज तथा धर्म संप्रदाय द्वारा चलाए जा रहे कतिपय संकुचित, बंदिस्त, संकीर्ण कटिबद्धता के साथ काम करने वाली जाति पंचायतें या मदरसा जैसी संस्थाओं में भी खोजना होगा। इतना ही नहीं, कई राजनीतिक प्रक्रियाएँ, प्रचार-प्रसार के माध्यम और संस्थाएँ ही बड़े पैमाने पर समाज को प्रेरित और प्रभावित कर रही हैं। इसके अलावा इस क्षेत्र में जनआंदोलनों की एवं गैर-चुनावी जनसंगठनों की राजनीति की भी महत्वपूर्ण भूमिका हो सकती है। इन सबमें हमारा हस्तक्षेप, चाहे वह संवाद के रूप में हो, संबंधित इलाके के भ्रमण के रूप में हो या मुद्दें पर बहस के रूप में तो कभी संघर्ष और चुनौती के माध्यम से हो, अपने किसी भी स्वरूप में यह अत्यंत महत्वपूर्ण है। इस कार्य में हमें अपनी सोच की कट्टरता को समाप्त करना होगा और शिक्षा में खुलापन लाने की और उसमें राष्ट्रीय मूल्यों से लेकर मानवाधिकार तक की बातों को स्थान दिलाने की भरसक कोशिश किए

बिना हमें चुप नहीं बैठना चाहिए। सामाजिक माध्यमों को उनके सही अर्थों से नज़रअंदाज़ करके हम अपने उद्देश्य पूरे नहीं कर सकते।

विभिन्न माध्यमों की स्थिति तो हमारे सामने स्पष्ट है। पूँजी और बाजार के प्रभावों की बलि बनते जा रहे ये माध्यम समाज को 'उपभोक्ता' के रूप में देखकर ही अपना संदेश और क्रियाकलाप तय करते हैं। ये व्यक्तिवाद, स्पर्धा, व्यक्तिगत स्वार्थहित को ही सब कुछ मानकर व्यापार और उपभोग की मात्र शिक्षा ही नहीं बल्कि दीक्षा देते हैं। विश्वस्तर पर पहुँचाने की ख्वाहिश का निर्माण करते हुए ये स्थानीय सांस्कृतिक और प्राकृतिक विशेषताओं को ही क्या, इतिहास और भूगोल को भी कोई स्थान देना गैर-जरुरी समझते हैं। समाचार के ही मूल्य को अहम मानकर ये 'विचार' को दुर्लभ या निचला स्थान देने दिलवाने में कामयाब हो जाते हैं। इनकी सीख से कई युवा या बुजुर्गों को भी 'नयी शिक्षा' ही क्या 'नया जीवनदर्शन' प्राप्त होता है। लेकिन 'विज्ञापनों' माध्यमों में, विशेषत: मुख्य धारा के चैनलों में, जनसामान्य की प्राथमिकताओं के लिए स्थान ही नहीं है क्योंकि इससे उन्हें आर्थिक लाभ नहीं मिलता। परंतु हम इन परिस्थितियों से हार नहीं मानेंगे।

प्रिंट माध्यमों की भी ब्यौरेवार समीक्षा के द्वारा उनकी भूमिका और सीमा का आकलन ज़रूरी है। साथ ही एक चुनौती के रूप में इन माध्यमों पर लगातार दस्तक भर देना ही नहीं बल्कि घुसपैठ करने को चुनौती के रूप में स्वीकारना होगा। इसी के साथ वैकल्पिक माध्यमों का प्रचार और प्रभाव भी बढ़ाना होगा।

मुख्यधारा के माध्यमों में जगह बनाने का कार्य, उनके चरित्र को देखकर ही हताश होने से नहीं बल्कि मेहनत, लगन और सृजनशीलता से ही होगा। 'नर्मदा बचाओ आंदोलन' का हमारा अनुभव बताता है कि भले ही हाथ में पूँजी और सत्ता न हो लेकिन अपनी खबर या सोच मीडिया तक पहुँचाने के लगातार प्रयासों से कुछ न कुछ हासिल तो ज़रूर होता ही है। कंप्यूटर और सुविधाओं के माध्यम से भी जो कार्य संस्थाएँ या व्यक्ति नहीं कर सकते, वह काम सामाजिक कार्यकर्त्ता नवाचार से संभव कर सकते हैं। इसके लिए विज्ञापन तैयार करने वाले कमर्शियल व्यावसायिकों से कहीं अधिक मेहनत की ज़रूरत होती है। मुझे याद आता है, 20 से 30 दिनों तक चले हमारे कार्यक्रमों में हर दिन नई खबर नए ढंग से पहुँचाने के लिए अभ्यास के साथ ही साथ विशेष कुशलता ज़रूरी होती थी। इस हेतु आवश्यक था कि ऐसी विज्ञप्ति तैयार की जाए जो केवल आकर्षक ही नहीं किंतु ठोस और नयी जानकारी पर आधारित हो और सबका ध्यान आकर्षित भी करे। इसी के समानांतर इसे नियमितता तथा तत्परता के साथ पहुँचाना भी एक महत्त्व का कार्य हुआ करता था। हम जब पुलिस के घेरे में शासकीय दमन के बीच, भूमिगत होकर रह रहे थे, तब भी मणिबेली जैसे पहाड़ी गाँव से सुबह चार बजे उठकर नदी पार करके कई कि.मी. पैदल चलकर जाने वाले कार्यकर्ता ही बाहर की दुनिया, समाचार माध्यम और व्यापक समाज तथा आंदोलन के बीच पुल बनकर रहते थे। कभी कॉलम लेखक तो कभी शोधकर्ता, तो कभी पत्रकारिता के विद्यार्थी भी हमारी बात इन समाचार

माध्यमों में प्रकाशित करवाने में कामयाब हो जाते थे। इस तरह हमने व्यापारी जगत के साथ समझौता न करते हुए भी वहाँ चल रही स्पर्धा के बावजूद अपने संघर्ष को उनके यहाँ स्थान दिलवाया।

यह बात भी सच है कि यह कितनी भी भयावह या अन्यायपूर्ण हकीकत हो, लेकिन मालिकों-मुनाफ़ाखोरों के दबाव में सामाजिक सरोकार की बातों को सोच समझकर दूर रखने की साज़िश समाजीकरण में बड़ा अवरोध पैदा करती है। बिल्डर्स और राजनीतिज्ञों के इन प्रचारक माध्यमों में निवेशक होने के नाते आभार, शहरी गरीबों के घरों या हकों पर चलने वाले बुलडोजर की खबर इन माध्यमों से प्रसारित नहीं होती। गरीबों के लिए लिखने वाले युवा पत्रकार को दबाने और डराने धमकाने तक की बातें प्रकाश में आई हैं। लेकिन लाखों लोगों के प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष संघर्ष को देखकर अचानक कई मुद्दे उभर आते हैं। उदाहरण के लिए मुंबई में एक साथ 75,000 झुग्गी-झोपड़ी गरीब घर कुचलने के विरुद्ध चले आंदोलन की खबर तब उठी जब हमारी संगठित महिलाओं ने उनकी जामीन हड़पकर लगाई गई तार तोड़ी और उसी गंदी जगह पर अपना 'सत्याग्रह' शुरु किया। कहने का अर्थ यह है कि केवल माध्यमों को नज़र में रखकर की गई दिखावटी कार्यवाही भी काम नहीं देती। सच्ची लगन और कटिबद्धता के साथ, जान की बाजी लगाने वाली कार्यवाही ही माध्यमों को स्वमेव खींच लाती है। शासन और समाज पर प्रभाव-दबाव बनाने और उनके निर्णय सार्वजनिक हित में परिवर्तित कराना चाहने वाले सामाजिक कार्यकर्ता भी माध्यमों में स्वयं की उपस्थिति को ही 'उद्देश्य' का अथवा साधनों को साध्य का दर्जा नहीं दे सकते। अगर ऐसा हुआ तो उद्देश्य सिद्ध नहीं हो सकता। कई बार कई मुद्दों को माध्यमों से पूर्ण लुप्त कर दिया जाना भी अपना असर लाता है, और अंततः वही महत्त्व की पूँजी बनती है। आखिर समाज में जागृति लाने के लिए केवल माध्यमों का साथ चाहने वाले, छोटे समूह में भी अपनी सामाजिक सोच पहँचाने में पूरी ताकत और कुशलता लगती है। हम सब तो लाखों-करोड़ों तक प्रभाव बढ़ाने की महत्वाकांक्षा नहीं बल्कि एक-एक इंसान और समाज समूह को बदलने की तमन्ना रखते हैं। शिक्षा के समाजीकरण की इस तरह कई दायरों और स्तरों में बढ़ाने की कोशिश साथ ही साथ चलती रहती है।

वैकल्पिक माध्यमों की जितनी भी चर्चा की जाए उतनी कम है। 'मुख्य धारा' कई मायने में 'मुख्य' और 'व्यापक' नहीं होती है। समाज की बड़ी जनसँख्या, जिसमें जरुरतमंद तबका उसकी परिधि पर या उससे भी बाहर ही रहते हैं। इस विडंबना को जानकर हमें नए माध्यमों के निर्माण और समन्वय पर विचार करना जारूरी है। आज छोटे-छोटे समूह या संस्था द्वारा अपना बुलेटिन, मुखपत्र या पत्रिका भी निकाली जाती है। कहीं-कहीं तो ढेर सारा समय और पैसा खर्च करने के बावजूद उनकी पहँच बहुत कम होती है। इन प्रयासों में समन्वय का अर्थ है कि प्रत्येक व्यक्ति या संस्था नया पत्र न निकालते हुए उपलब्ध पत्रिकाओं में से समविचारी कौन है यह चुनकर उसी में अपनी जगह बनाए और उसमें योगदान करे। साथ ही उपलब्ध विचार-साहित्य को विशेष दर्जा देने के लिए विचार को पुस्तक या प्रदर्शनी

के रूप में प्रस्तुत करना भी सहायक सिद्ध हो सकता है। इन माध्यमों पर जनशक्ति जुटाकर, इन पर चर्चा करना भी महत्वपूर्ण हो सकता है। '*स्लमडॉग मिलिओनेअर*' जैसी फिल्म के ऑस्कर पुरस्कृत होने पर उसके दर्शन पर संगोष्ठियाँ, 'मुख्य' और 'विमुख' प्रवाहों को जोड़ने वाली हो सकती हैं, इससे सामाजिक शिक्षा के लिए '*स्लम*' यानि शहर की गरीब बस्ती जैसा विषय—उसकी अनाधिकृतता', 'अतिक्रमण', 'गंदगी', 'गुंडागर्दी' या विरोधी छवि के परिप्रेक्ष्य में विश्लेषित किया जा सकता है। भूकंप या सुनामी के बाद पर्यावरण की, आतंकवादी हमले के बाद हिंसा और अहिंसावादी सोच, सूखा पड़ने पर जल नियोजन की, युद्ध के परिप्रेक्ष्य में *वसुधैव कुटुंबकम* की चर्चा जैसे विषयों को शिक्षा का हिस्सा बनाने के लिए हमारी तैयारी जरुरी है। मानव अधिकार या आवास पर या रोजी-रोटी में भी शिक्षा को केंद्र में रखते हुए कई *डॉक्युमेंट्रीज़* बनाने वाले आनंद पटवर्धन, सुमित्रा भाव, सागरी छाबड़ा, या महाविद्यालयीन शिक्षाक्रम में ये मुद्दे डालने के लिए कार्यरत देवकी जैन जैसे सामाजिक शिक्षाविद् विशेष योगदान के लिए धन्यवाद के पात्र हैं। हमें भी यह कार्य करना होगा। इन माध्यमों में, न केवल संदेश ठोस देना होगा, बल्कि भाषा से लेकर भी स्पष्टता बनानी होगी।

हमारा लक्षित तबका दलितों, शोषितों, पीड़ितों का है। अतएव हमें उनके लिए एक ऐसी भाषा को अभिव्यक्ति का माध्यम बनाना होगा जो कि मात्र 'मान्यताप्राप्त' और अतिशुद्ध होने का दावा नहीं करती हो बल्कि ऐसी भाषा या बोली हो जो दिल को छू सके। आदिवासी बोलियों में सामाजिक मुद्दों पर पर्चा निकालकर प्रत्येक जनसंगठन घर-घर तक उनकी बात पहुँचाने का प्रयास करता है। परंतु शहर के किसी भी महाविद्यालय में पहाड़ी, आदिवासी या आंचलिक बोलियों को किसी भी प्रकार का प्रोत्साहन नहीं दिए जाने से शहरी तबका इस प्रक्रिया का सदभागी नहीं बन पाता। हम सब ऐसा होता देखते रहते हैं। इस प्रक्रिया को बदलना होगा। भाषा की विविधता में जो ताकत है उसे तोड़-मरोड़कर, उसका विरोधकर किसी एक भाषा के एकाधिकार द्वारा 'एकता या एकात्मकता' लाने का मार्ग तलाशना हमारी बेबुनियादी सोच है। शिक्षाविदों का यह स्पष्ट अभिमत है कि अपनी मातृभाषा में ही जमीनी या मूलभूत भाषा में जड़मूल से विचारों का निर्माण होता है। भाषा का संबंध अपने परिवेश और जीवनदृष्टि से भी होता है, अतएव उसकी विविधता बनी रहने से ही वास्तविक लोकतांत्रिक और जनवादी शिक्षा संभव हो पाएगी। आनंद भारती जैसी संस्था ने विभिन्न भाषाओं में लिखे उत्कृष्ट साहित्य के अनुवाद का वृहद कार्य वर्षों से हाथ में ले रखा है, इसे भी इस दिशा में योगदान देने वाला कार्य समझा जाना चाहिए। परंतु शिक्षा के समाजीकरण के लिए इतना ही कार्य नहीं है बल्कि इस हेतु आवश्यक है कि साहित्य के साथ-साथ अन्य माध्यमों के प्रति भी हमारा खुलापन बढ़े और उसे जाति, धर्म, प्रांत या ऊँच-नीच से ऊपर उठकर देखें। इससे इस प्रक्रिया में सहायता मिलेगी। जन आंदोलनों के राष्ट्रीय समन्वय की प्रक्रिया में हम अपने साहित्य का छः भाषाओं में अनुवाद करने के बाद सम्मेलन को सफलता

दिला पाए अथवा 'देश बचाओ—देश बनाओ' यात्रा को प्रत्येक राज्य तक पहुँचा पाए। दुर्भाग्य है कि नारे और प्राँतीय भाषा के चार वाक्यों से भी परहेज करने वाले, समय आने पर मजबूरी में ही सही विभिन्न भाषाओं के लिए अपने कान खोलते हैं और जल्दी ही स्थिति पलटती भी है। इसमें हम सबका संकल्प और ताकत भी कई गुणा बढ़ती है।

समाजीकरण से सामाजिक शिक्षा को चुनौती

मूल्यहीन बनी हमारी राजनीति आज भी समाज की सोच बनाने, बदलने में माहिर है। जब मैं राजनेताओं के शिक्षा संस्थानों की बात करती हूँ तो उससे मेरा आशय होता है मुद्दों और समस्याओं के 'राजनीतिकरण' से। फिर मुद्दा चाहे आतंकवाद का हो या किसानों की आत्महत्याओं का, राजनेता प्रत्येक मुद्दे का अपनी राजनीतिक अभिलाषा या स्वार्थ से आकलन करते हैं और इस प्रक्रिया में अपनी सामाजिक ज़िम्मेदारियाँ भूल जाते हैं। इतना ही नहीं इनका एक समुदाय तो समता, बंधुत्व, स्वावलंबन और लोकतांत्रिक प्रक्रिया के खिलाफ लोगों को भड़काने में लगा हुआ है। इस बात को नकारा नहीं जा सकता कि संवेदनशील नागरिकों द्वारा ऐसी राजनीति की ज़बरदस्त भर्त्सना किए जाने के बावजूद राजनैतिक प्रचार-प्रसार समाज को बनाने या बदलने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। दु:खद बात यह है कि चुनाव के माहौल में इस मुद्दे पर कोई बहस या विवाद होता है तो हमारी अपनी बिरादरी के लोग एकजुट नहीं दिखते।

हमने देखा है कि प्रत्येक आतंकवादी हमले के बाद—चाहे वह संसद पर हो, चाहे 'ताज' पर। चुनावी राजनीति युद्ध ज्वर फैलाने का कार्य करके वर्षों से समभाव पैदा करने वाली, शिक्षा, जनजागरण या संगठन के कार्य को पीछे धकेलती है। किसान जैसा फेंटा बाँधकर खड़े राजनेता किसान के योगदान को आर्थिक एवं राजनीतिक मंचों पर कोई स्थान ही नहीं देते। ऐसे में विविध सामाजिक प्रक्रियाओं, सरोकारों, संघर्षों से या फिर रचनात्मक कार्यों से समाज में दमित आकांक्षा, विषमता एवं भेदभाव को मिटाने के प्रति कटिबद्धता, विश्वास और ऊर्जा बनाए रखने के लिए 'सामाजिक शिक्षा' ही तो काम में आती है। यह भी जारूरी है कि सामाजिक शिक्षा में समाज में परिवर्तन लाने का स्वर निहित हो। इस महत्वाकांक्षा को केवल सपना न मानते हुए हमें कहीं न कहीं से शुरुआत तो करनी ही होगी। इस हेतु हम 'चुनाव सुधार' से लेकर ग्राम या बस्ती का अपने संसाधनों पर पहला अधिकार मानने वाले लोकतांत्रिक मुद्दे को सामाजिक बहस और विकास के नजरिए का मुद्दे बना सकते हैं। हमारे सामने ऐसे कई उदाहरण दिखते हैं जहाँ आम जनता ने एक दूसरे को पुकारा और राजनीतिक माहौल को चुनौती दी। तकनीकी विकास ने बाजार को बढ़ावा दिया है। मोबाइल-इंटरनेट तकनीक का उपयोग कहीं तो लाखों को इकट्ठा करने के लिए किया जा रहा है वहीं दूसरी ओर इन माध्यमों का उपयोग इराक युद्ध के दौरान आतंक और हिंसा को नकारने के लिए एवं सामाजिक ला रहा है। यह भी संभव है कि इन प्रयासों में क्षणिकता और ऊपरी भावना के कारण विफलता आदान-प्रदान और जनशक्ति जुटाने के नए तौर-तरीके के रूप में भी सामने भी मिले लेकिन राजनीतिक प्रक्रियाओं में भी

ऊर्जा की कमी है। लगाई जाने वाली ऊर्जा में कई गुना वृद्धि होने से ऐसे प्रयास लंबा असर छोड़ते हैं। इसे भी राजनीति को चुनौती देने वाली 'सामाजिक शिक्षा' या सामाजिक जागरण की प्रक्रिया मानें तो आजादी, आंदोलन, 70 के दशक का नवनिर्माण आंदोलन से लेकर वर्तमान में नंदीग्राम, रायगढ़ या नर्मदा घाटी में चल रही अ-जनतांत्रिक, विनाशकारी विकास नीति के विरोध में चल रहे सतत् संघर्ष तक के अनुभवों के आधार पर हम अपनी बात को प्रामाणिकता दे सकते हैं।

शिक्षा—एक छोटा-सा शब्द है परंतु उसकी परिभाषा उद्देश्य, दायरा, माध्यम और प्रक्रियाओं में 'समाजीकरण' की दिशा में योगदान की चुनौती हमें सतत् कार्यरत रहने की प्रेरणा देती है। हम जो भी करते हैं, उस कार्य को 'समाज और बंधन' का कार्य मानने से हमारी जिम्मेदारी बढ़ती है और हमें अपना कार्य भी अर्थपूर्ण लगता है फिर वह कार्य चाहे संघर्ष का हो या रचना का। भूमंडलीकरण और पूँजीवाद के इस विस्तारित माहौल में न केवल आर्थिक मंदी बल्कि मानवीय मूल्य, अधिकार और रिश्तों में आ रही गिरावट, प्रकृति के तापमान से लेकर सूखा, बाढ़ और भूचाल के रूप में उभरा विनाश और राजनीतिक खोखलापन हमें अधिक मजबूर कर रहा है कि हम हमारी जीवन संस्कृति और प्रकृति के प्रति अपनी सोच में परिवर्तन लाएँ और उस दिशा में आगे बढ़ने का सतत् प्रयास भी करें। अन्यथा हमें हमारे आज के युवा और बच्चे तथा आने वाली पीढ़ी भी माफ़ नहीं करेगी।